संघर्ष जारी है

डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक'

जन्म : 15 अगस्त सन् 1959, ग्राम पिनानी, पट्टी घुड़दौड़स्यूँ जनपद पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखंड (हिमालय)भारत।

प्रकाशित कृतियाँ : समर्पण, नवांकुर, मुझे विधाता बनना है, तुम भी मेरे साथ चलो, देश हम जलने न देंगे, मातृभूमि के लिए, जीवन-पथ में, कोई मुश्किल नहीं, प्रतीक्षा, ए वतन तेरे लिए, संघर्ष जारी है (काव्य-संकलन): रोशनी की एक किरण, बस एक ही इच्छा, क्या नहीं हो सकता, भीड़ साक्षी है, खड़े हुए प्रश्न, विपदा जीवित है, एक और कहानी, मेरे संकल्प (कथा-संग्रह): मेरी व्यथा, मेरी कथा (शहीदों के पत्रों का संकलन): निशांत, मेजर निराला, बीरा, पहाड़ से ऊँचा (उपन्यास), हिमालय का महाकुंभ-नंदा राजजात (यात्रा-वृतांत)।

देश-विदेश की अन्य भाषाओं में अनुवाद : 'ए वतन तेरे लिए' व 'खड़े हुए प्रश्न' का तमिल व तेलुगु भाषा में अनुवाद। 'खड़े हुए प्रश्न' व 'क्या नहीं हो सकता' का मराठी में अनुवाद। हैम्बर्ग विश्वविद्यालय द्वारा 'बस एक ही इच्छा', 'प्रतीक्षा' व 'तुम और मैं' कृतियों का जर्मनी में अनुवाद। 'भीड़ साक्षी है' कृति का अँग्रेज़ी भाषा में अनुवाद हैम्बर्ग विश्वविद्यालय में प्रो॰ तात्यानिया द्वारा कई कहानियों का रूसी भाषा में अनुवाद।

साहित्य पर शोधकार्य : गढ़वाल, कुमाऊँ, मेरठ, मद्रास, रुहेलखंड व कुरुक्षेत्र सहित अनेक विश्वविद्यालयों में साहित्य पर शोधकार्य।

राजनीतिक पृष्ठभूमि : 1993 व 1996 में लगातार तीन बार कर्णप्रयाग क्षेत्र से उत्तर प्रदेश विधानसभा हेतु निर्वाचित; सन् 1997 में उ॰प्र॰ में पर्वतीय विकास विभाग व तदुपरांत संस्कृति, पूत धर्मस्व व कला विभाग के कैबिनेट मंत्री। उत्तरांचल राज्य गठन के उपरांत वित्त सहित बारह विभागों के कैबिनेट मंत्री। मार्च 2007 से मई 2009 तक स्वास्थ्य सहित अनेक विभागों के कैबिनेट मंत्री। वर्तमान में उत्तराखंड के मुख्यमंत्री।

सम्मान : उत्कृष्ट साहित्य-सृजन हेतु तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह, डॉ॰ शंकरदयाल शर्मा व डॉ॰ ए॰पी॰जे॰ अब्दुल कलाम द्वारा राष्ट्रपति भवन में सम्मानित, अंतर्राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, कोलंबो, श्रीलंका द्वारा साहित्य व समाजसेवा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हेतु 'डॉक्टर ऑफ़ साइंस' की मानद उपाधि, हैम्बर्ग विश्वविद्यालय जर्मनी के अतिरिक्त हालैण्ड, नार्वे, रूस सहित कई यूरोपीय देशों व विश्वविद्यालयों सहित देश-विदेश की अनेक सामाजिक/सांस्कृतिक/साहित्यिक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

संप्रति : प्रधान संपादक 'सीमांत वार्ता' दैनिक व उत्तराखंड सरकार में मुख्यमंत्री।

संपर्क : 37/1 विजय कॉलोनी, रवींद्रनाथ टैगोर मार्ग, देहरादून, उत्तराखंड, भारत।
e-mail : nishankramesh@gmail.com
website : rameshpokhriyalnishank.com

संघर्ष जारी है

(राष्ट्रीय अस्मिता की कविताएँ)

रमेश पोखरियाल 'निशंक'

हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर

ISBN 97881-89790-66-0

प्रकाशक : **हिन्दी साहित्य निकेतन**
16 साहित्य विहार
बिजनौर (उ॰प्र॰)
फ़ोन : 01342-263232
ई-मेल : giriraj3100@gmail.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com
टाइप सैटिंग : अनुभूति ग्राफ़िक्स, बिजनौर (उ॰प्र॰)
मुद्रक : आदर्श प्रिंटर्स, दिल्ली 32
संस्करण : 2009
मूल्य : एक सौ सत्तर रुपए

SANGHARSH JAARI HAI (POETRY) BY RAMESH POKHARIYAL 'NISHANK'
Rs. 170.00

शब्द कभी मरते नहीं हैं

डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक' की नवीन काव्य-कृति 'संघर्ष जारी है' मेरे समक्ष है। 'निशंक' कवि पहले हैं राजनेता बाद में, ऐसा मेरा अभिमत है। नि:सर्ग की जिस सौंदर्यमयी धरती पर कवि का अवतरण हुआ, वह सृजन की अजस्र स्रोतस्विनी रही है। प्रकृति का विराट् सौंदर्यपुंज अपने नाना रहस्य-भरे स्वप्नों के साथ कवि के हृदय का प्रेरणास्रोत बना है। रमेश पोखरियाल 'निशंक' हिमालय के उन वरद् पुत्रों में हैं, जिनकी सृजनक्षमता का विस्तार सागर पार की लहरों में गूँजता दिखाई देता है। शिक्षक, प्राचार्य और उसके बाद राजनेता के व्यक्तित्व के रूप में उनका कविरूप कहीं ओझल नहीं हुआ है, क्योंकि समाज और व्यक्ति-विशेष के मध्य जो तत्त्व संवाद-सेतु बनता है, वह है संवेदना। यह कवि की संवेदना ही तो है, जो समाज में हो रही प्रत्येक घटना, प्रत्येक क्षण को अपनी रचना के कलेवर में समेटकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करती है और पाठक उसका साक्षात्कार कर उसे और अधिक स्पष्ट एवं साक्षात्कृत रूप में अनुभूत कर पाते हैं। कविता मानव के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मानव-जीवन में व्याप्त सौंदर्य और मधुर के साथ कठोर यथार्थ का अंकन भी आज के कवियों को अभिप्रेत है। 'निशंक' की कविता समकालीन काव्यधारा के निकष पर स्वयं को सार्थक सिद्ध करती है, जीवन के नाना संदर्भों को शब्द देने के क्रम में उनकी कविता का स्वरूप इतना विविधामय है, जिसे सीमित शब्दों में अभिव्यक्त कर पाना अति दुष्कर है। मानव-जीवन की नियति के उद्दाम आवेगों की भाँति कविता निरंतर गतिमान है, निरंतर विकासमान रूप में सुखद भविष्य की कामनाएँ वहाँ व्यक्त हुई हैं। यह कविता परम स्वाधीन है और कवि उसमें आगमिष्यत की छाया भी खोजने में समर्थ रहे हैं।

परम स्वाधीन है वह
विश्वधात्री है,
गहन-गंभीर छाया आगमिष्यत की लिए
वह जन-चरित्री है

मुक्तिबोध की कविता की इसी गहन-गंभीर छाया अथवा यथार्थ जीवन के प्रति संपृक्ति के कारण कवि 'निशंक' की कविताओं में भी समकालीन कवियों की भाँति लौकिक जीवन एवं सामान्य जन ही महत्त्वूपर्ण है। वे धरती के अमर गायक हैं। अपनी धरती के लोग, धरती का जीवन, धरती का वैभव और उसी विभुमय भारत के लिए अपनी प्राणात्मा का सर्वस्व समर्पण 'निशंक' की कविता का मूल स्वर है, जो औपनिषदिक युग की कविता से लेकर आज तक प्राय: समस्त कवियों की चेतना में समाया दिखता है।

इस संग्रह की कविताओं में जीवन और जगत् के प्राय: सभी धूपछाँही रंगों का मिश्रण है। कवि की लेखनी सृजन की अविराम प्रक्रिया में अभिव्यक्ति के नए-नए आयाम प्रस्तुत करती गई है और इन्हीं के माध्यम से कवि ने अपनी रचना-प्रक्रिया को भी पाठकों के समक्ष अत्यंत काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है–

मैं अनमना सा सोच रहा,
अपने ही भीतर
स्वयं ही को खोज रहा।

यह अपने भीतर अपने को ही खोजने की जो संवेदना है, उसी भावना ने धीरे-धीरे सशक्त रचना का स्वरूप धारण कर लिया है। क्षण-भर के लिए कौंध गए भाव या अनुभूति को तत्काल पकड़ पाना और कविता के शब्दों में उतारना एक जटिल प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में 'निशंक' की कविताएँ पूरी तरह से खरी उतरी हैं। थके-हारे-मुरझाए चेहरों में नया जोश, नयी उमंग देखने की कामना से भरपूर उनकी कविताओं की ऊर्जस्विता मानव-मात्र को कभी न हारने का संदेश देती है। यही आशावाद कवि के अन्य संग्रहों की कविताओं में भी देखने को मिलता है, यही अदम्य दुर्वार भावोच्छ्वास कवि की कविता का चरम सत्य है, जो कविता के माध्यम से मानव-मात्र की अपराजेय जयगाथा को प्रस्तुत करने में समर्थ बना है–

आकाश की ऊँचाइयाँ

और सागर की गहराइयाँ
यहाँ पड़ गई हैं कम।

उनके जीवन की मधुमय प्रेरणा वे ही 'गीत' हैं, जो श्रांत-शिथिल मन और क़दमों को सरल-सुगम बनाकर जीवन-यात्रा को मधुमय रूप में पूर्ण करते हैं–

इस जीवन-यात्रा को मधुमय बना बनाकर
गीत! तुम ले जाते हो पार भरमा-भरमाकर।

मानव-हृदय एवं सामाजिक परिवेश में व्याप्त नाना क्षणों और सूक्ष्म संवेदनाओं को कवि की प्रखर दृष्टि ने अपनी प्रतिभा की विशिष्टता के माध्यम से सृजनात्मक रचना में रूपांतरित किया है–

जो कभी राह बनाते थे
उन्हें गड्ढा खोदते भी देखा है मैंने,
जो अमृत-रस बरसाते थे
आज उन्हें ही ज़हर घोलते देखा है मैंने।

इसी प्रकार 'मानव' 'कंधार की आँखों पर पट्टी' शीर्षक लंबी कविताओं में कवि ने युग-जीवन की और मानव-मन की कुत्सित आकांक्षाओं को उकेरा है। वे आकांक्षाएँ, जो विश्वमानवता के मार्ग में बाधा बनकर खड़ी हैं। 'मानव' और 'कंधार की आँखों पर पट्टी' कवि के अंतर्मन की उस तीव्र वेदना का गान है, जो किसी सहृदय कवि की सहज विशेषता रही है, किंतु वह पराजित नहीं है। 'विभुमय भारत' के भास्वर स्वप्नों को पालता कवि आसेतु हिमालय तक पावन वेद की ऋचाओं के स्वरों के उद्बोध का चिर आकांक्षी रहा है–

मैं स्वप्न पालता हूँ भास्वर
अखिल सृष्टि के हे गुरुवर!
आसेतु हिमालय तक फैले
पावन वेद ऋचा के स्वर।

संकलन की समस्त कविताएँ, चाहे वे क्षणिकाएँ हों या अश्रुहास मिश्रित सजल प्रणय के स्वर, स्वाभिमान का ओज हो अथवा प्रकृति का मधुर शृंगार, सर्वत्र कवि की उद्भावनाएँ नूतन परिवेश को सँजोए हैं। राजनीति के साक्षात् क्षणों को प्रतिक्षण जीने वाला कवि 'राजनीति के चक्रव्यूह' को स्मरण

करने में भी कृपण नहीं है, वह राजनीति जो आज पूरे देश, पूरे विश्व को और सभी को अपनी ओर खींच रही है। कवि स्वयं महत्त्वाकांक्षी राजनीति का कुशल पारखी है और राजनीतिक दुरभिसंधियों से आहत उसका मन अवश हो उठता है और उसके स्वर फूट पड़े हैं–

प्रतिक्षण संघर्षों की ही, मालाओं से पिरा हुआ हूँ,
राजनीति के चक्रव्यूह में, अभिमन्यु–सा घिरा हुआ हूँ।
पूर्वाग्रही जन तय करते हैं
कौन ग़लत है कौन सही,
झूठे को भी सच करने को
उलटी कुटिल बयार वही
दुष्प्रचार की आँधी में भी निशंक अकेला खड़ा हुआ हूँ।
राजनीति के चक्रव्यूह में, अभिमन्यु–सा घिरा हुआ हूँ।

कहना न होगा कि सामयिक संदर्भों की इतनी तीखी और प्रखर–मुखर अभिव्यक्ति 'निशंक' जैसा तेजस्वी और निर्भय कवि ही कर सकता है। सशक्त रचना की यही पहचान है।

कवि की कविताओं की उपलब्धि और लक्ष्य को इस रूप में कहा जा सकता है कि उनकी कविताएँ पाठक के लिए मात्र आंतरिक आनंद प्रदान करने वाली नहीं हैं, अपितु इन कविताओं में कवि की मंगलशंसा है कि वे कविता द्वारा बेहतर समाज का निर्माण करना चाहते हैं, श्रेष्ठ मानवत्व का संदेश देना चाहते हैं। मानव–जीवन की विविध हलचलों और अनुभूतियों को प्रस्तुत करने में कवि 'निशंक' सर्वथा सफल रहे हैं, मन में सुदीर्घ काल तक सँजोकर रखी यही सूक्ष्म एवं सचेतन अनुभूतियों को भावानुसार सार्थक शब्दों में व्यक्त करते हुए उन्होंने 'कविता' के मर्म को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। कवि की अदम्य, अपराजेय भावनाएँ निरंतर निराशा में आशा का संचार करती रही हैं। यही 'आशावाद' का सकारात्मक चिंतन कवि की सारस्वत यात्रा का पाथेय रहा है–

संघर्षों ने थकाया
विजय फिर भी मेरी है
रुका नहीं, चलता रहा हूँ
मैं परिस्थितियों से लड़ता रहा हूँ–
मैं हारते हुए भी जीता हूँ

और जीतता रहूँगा।

अप्रासंगिक नहीं है कि उनकी कविता ने मानवीय सत्य के विराट् एवं व्यापक रूप का संधान किया है और वर्तमान व्यवस्था से बेहतर समाज, राष्ट्र और मानव के निर्माण में सतत् चिंताएँ व्यक्त की हैं।

कवि श्री 'निशंक' की सारस्वत यात्रा का यह प्रयास अपने–आपमें भारतीय कविता का महत्त्वपूर्ण सोपान कहा जा सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं। 'निशंक' यशस्वी कवि हैं और कविता उनका जीवन है, बाह्य जीवन के कोलाहल, अस्त–व्यस्त परिवेश से परे वे जिस शाश्वत जगत् के अवगाहन में निरंतर मग्न हैं, वह उनकी कालजयी उपलब्धि है। भारतीय वैभव और भारतीय संस्कृति के उद्गाता के साकार रूप कवि श्री रमेश पोखरियाल 'निशंक' के इस संग्रह से उनकी कविता के सर्वथा अभिनव रूप का परिचय प्राप्त होगा, क्योंकि सशक्त कविता सायास नहीं बन पाती। कब, किस क्षण में, कहाँ, कौनसे पल अचानक कौंधते हैं और कवि उन्हें शब्दों में बाँध देते हैं, कुछ ऐसा ही प्रयास है इस संग्रह में। संग्रह की समस्त कविताएँ अपने–आपमें श्रेष्ठता का विरल रूप प्रस्तुत करने वाली हैं।

कवि के ही शब्दों में– 'शब्द कभी मरते नहीं हैं।'

डॉ॰ सुधारानी पांडेय
कुलपति
उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय
हरिद्वारम्।

अनुक्रम

आदमी	13
अनमना-सा मैं सोच रहा	14
धरती का शृंगार	15
आज	17
युवा मन	18
प्रभाती	20
जीवन और मौसम	21
संकल्प लिया है हमने	22
उजाड़ रहे हो	24
गीत	25
क्यों कहीं उत्सव नहीं	26
पत्थर बोलेंगे	27
हम टिके हैं	29
मैं अकेला ही सही	30
जीवन	31
जो कभी राह	33
इन्हें निकल जाने दो	34
मेरे आँसू	35
क्षणिकाएँ	36
क्या रोना	39
अपने ही अंदर	40
सिर्फ़ बाज़ार	41

मन बनाया है	42
रात भी दौड़ूँ	43
मेरा गीत	44
नए क्षितिज	45
छिपा है कुछ	47
वह गीत	48
मानव	49
कंधार की आँखों पर पट्टी	51
क्या भूलँ, क्या याद करूँ	54
तुम और मैं	55
लिखने को बहुत	57
प्रेरणा	59
विभुमय भारत	60
सृजन के दीप जलें	61
हे कालिदास	63
राम! तुम अकेले नहीं	66
मैं धरती हूँ	68
स्वतंत्रता के बाद	69
हम निकल पड़े हैं फिर से	71
राजनीति का चक्रव्यूह	73
विरल हैं वन	75
कहाँ है?	77
प्रतीक्षा	78
नींव का निर्माण	80
कौन	83
पता नहीं क्यों	84
कुछ कह रहे हो	86
आशा सुबह की	87

जिधर देखो 89
मित्र ग्रंथ 90
एक दिन 92
मैंने देखा है उसको 94
हे गुलाब 96
नाम नहीं रुकने का 98
ओह! वे छलते रहे 100
लक्ष्य 102
अंतिम संदेश 104
प्रेम की शक्ति 105
चरैवेति-चरैवेति 107
मैं हारा नहीं हूँ 110
संघर्ष जारी है 112
मौक़ा है 114
हम ही जले 115
यात्रा 116
भावों की देवी 117
सुंदर 118
तुम न जाने क्यों? 119
ठेके 120
व्यापार 124

आदमी

भगवान का अद्‌भुत निर्माण है ये आदमी।
आनंद और अवसाद का, पुंज है ये आदमी।

इसके लघु ललाट में, पूर्ण ब्रह्मांड समाया है।
षोडश कलाएँ लिए हुए, ये धरती पर आया है।
सच मानों ईश्वर का, दूसरा रूप है आदमी।
आनंद और अवसाद का, पुंज है ये आदमी।

देखता है भोगता, सिमेटता बिखेरता।
घिर रहा स्वयं किंतु, दुनिया को भी घेरता।
पाप हैं पर पुण्य का, कुंज भी है आदमी।
आनंद और अवसाद का, पुंज है ये आदमी।

♦♦

अनमना-सा मैं सोच रहा

मैं
अनमना-सा सोच रहा
अपने ही भीतर
स्वयं ही को खोज रहा।
ठहरा नहीं हूँ दौड़ रहा
रुकने का तो नाम नहीं,
देखा अभी-अभी हूँ यहाँ
अगले क्षण में और कहीं।

मैं
निश्‍चिंत नहीं हूँ
भय भी तो साथ है,
पल-पल का यह जीवन
लक्ष्य पाए, व्यर्थ न जाए
जीवन यूँ ही बीत न जाए
अनमना-सा मैं सोच रहा।

♦♦

धरती का शृंगार

ढल रही रात
आ रहा है भोर,
अब शनैः शनैः
हो रहा है शोर।

भोर की सुनहरी छटा
कितने देख सकेंगे,
और देखकर उसे हृदय में
जाने कौन रखेंगे?

यह भोर
सूर्य-किरण के साथ
ओसकण छितराएगी,
निशा की कालिमा मिटा
प्रकाश धरा में फैलाएगी।

झिलमिलाहट इसकी
मन में हर्ष,
तन में स्फूर्ति
जगत् में सौंदर्य का
संसार रचा
धरती का शृंगार करेगी।

सूर्य की बाल किरण
लता-वृंदों की शोभा बन
बाल क्रीड़ाएँ रचेगी।
यौवन को पाकर
इन ओस-कणों को
बना देगी पानी
ढलती चली जाएगी
इनकी जवानी।

तेज ऊष्मा
पाने के बाद
यह ख़ुद समा जाएगी
वहीं उस धरती में
जहाँ इसका जन्म हुआ।
सूर्य की यह किरण
धरती का
यूँ भी शृंगार करेगी।

♦♦

आज

आज मन
असीम विस्तार लिए,
महासागर की लहरों-सा
लहराने लगा है।
सुप्त पड़ा तन
नई आशाओं के साथ
आह्लादित हो जगा है।
आज हिमालय के
आँचल से,
सुगंधित वायु
जीवनदायिनी बन आई है।
आज थके, हारे और
मुरझाए हुए चेहरों में
नया जोश, नई उमंग छाई है।
तभी तो आज
मेरे आकाश में
दैदीप्यमान सूर्य छाने लगा है।
तारकवृंदों सहित चंद्रमा
सौंदर्य और शांति
बरसाने लगा है।

♦♦

युवा मन

अंतर्मन के संग
अंग–प्रत्यंग
जैसे किसी ने छुए,
मेरे युवा मन में
संगीत के ऐसे
कुछ तार झंकृत हुए।

अचानक
जीवन हिलोल लेने लगा,
सूने से इस जीवन को
कौन अभिमंत्रित करने लगा।

आज मन में
असीम चाह है,
दूर–दूर तक बाधारहित
दिखती हर राह है।

आज तो जैसे

मानस तरंगों के साथ,
सागर की लहरों का
अनोखा हुआ है संगम।

आकाश की ऊँचाइयाँ
और सागर की गहराइयाँ,
यहाँ
पड़ गई हैं कम।

आज जीवन में
अजीब–सा उत्साह है,
और मन में देखो
असीम चाह है।

♦♦

प्रभाती

आज तो
प्रभाती मुझसे कुछ
कहने आई है।
अंतरचेतना में जैसे
कोई
मधुर ध्वनि बजाई है।

देखते–ही–देखते
जीवन–संगीत
प्राणों को स्पंदित कर
रोम–रोम में छाने लगा है,
आज तो
पूरा अस्तित्व अनंत में समा
आनंद से विभोर
एक नया गीत गाने लगा है।

♦♦

जीवन और मौसम

छँटने लगे हैं बादल
धुंध होने लगी कम,
नई सुबह की है आहट
बदलने लगा मौसम।

दिखने लगा रास्ता
मिटने लगा है भ्रम,
जीवन की घोर बाधाएँ
दृढ़ता के सामने
पड़ने लगी हैं कम।
प्रकृति के साथ–साथ
जीवन का भी
बदलने लगा मौसम।

♦♦

संकल्प लिया है हमने

संकल्प लिया है हमने
हम मायूसी तोड़ेंगे
और निराशा की धारा
आशा से जोड़ेंगे।

त्याग दासता के मानस को
हम सबको स्वाधीन करेंगे,
स्वाभिमान की रक्षा हित
हम जिएँगे और मरेंगे।

हमने तो संकल्प लिया है
दिन पर रात न चढ़ने देंगे,
और कलुष की काली छाया
अब न स्वयं पर पड़ने देंगे।

हम तो अब अभियान लिए
दिशा–दिशा में जाएँगे
एक नई अनुपम दुनिया का
संदेश धरा पर लाएँगे।

रख हथेली पर प्राणों को
परिवर्तन की साँस भरेंगे,
दुष्कर जो लगता दुनिया को
संभव हम वह काम करेंगे।

♦♦

उजाड़ रहे हो!

उनका यत्न रहा
चौतरफ़ा आग लगाने का
मेरे खुशियों के घर को जलाने का।

उनका प्रयास रहा
मेरी दृढ़ता को डिगाने का,
मेरे सच्चाई के स्वर को,
ज़हर का घूँट पिलाने का।

उनका षड्यंत्र रहा,
खिलखिलाते उपवन उजाड़ने का,
कर्तव्य-पथ पर बढ़ते पगों ने,
आघात सहा तुम्हारी क्रूरता का।

तुम उजाड़ नहीं सकते,
मेरे स्वप्निल संसार को,
तुम बदनाम ही कर सकते हो,
मेरे अकलुषित प्यार को।

स्नेह कोमल ही सही
पर किसी से कम नहीं है,
संसार में चाँद सूरज भी हैं,
केवल तम ही तम नहीं है।

♦ ♦

गीत

कभी हँस कर
कभी रो-रो कर,
मन का मन-मन
बोझ हटा कर,
थकते क़दमों को
उठा-उठा कर,
इस जीवन यात्रा को,
मधुमय बना-बनाकर,
गीत! तुम ले जाते हो पार,
भरमा-भरमाकर।

♦ ♦

क्यों कहीं उत्सव नहीं?

इस नगर की हर गली
आज क्यों निर्जन पड़ी है?
ध्येय मंजिल निष्प्राण हो
मूक अबला-सी खड़ी है।

दिवस तो है वही पर
आज ये क्या हो रहा है?
परिचित की गली का भी
मार्ग क्यों खो-सा रहा है?

विस्मृत से हैं जन यहाँ
क्यों, कहीं उत्सव नहीं है?
क्या हो गया इस नगर को,
सब वहीं, फिर क्या नहीं है?

♦ ♦

पत्थर बोलेंगे

उनकी बाँहों में
कहाँ दम है?
कि वे आँधियों को
चट्टान बन रोक सकें।

साहस नहीं इतना उनमें
दूसरों को जलाती अग्नि में
वे अपना सर्वस्व झोंक सकें।

कहाँ दम है उनमें?
कि
भूख और प्यास के
वेग को सह सकें,
और दिशाओं को रोकने
वे नभ को झुका सकें।

मात्र ये तो दंभ करते हैं
अच्छे काम करने से डरते हैं,
ये बन नहीं सकते बलवान्
नहीं बन सकती
इनकी पहचान।

अपने ही अहं के बीच
आत्मश्लाघा कर
दिन बिता देते हैं,
इतिहास पूछेगा जब प्रश्न,
तब ये नहीं,
हाथों में उठाए ये
मौन, स्तब्ध पत्थर बोलेंगे।

♦♦

हम टिके हैं

ब्रह्मांड के ये पिंड
एक-दूसरे पर झुके,
एक-एक क्षण के लिए
एक-दूसरे पर रुके।

ये उन पर आश्रित
वे इन पर आश्रित।
पारस्परिक तो हैं
कोई गहन संबंध
जिसके बल ये
परस्पर हैं टिके।

♦♦

मैं अकेला ही सही

वह अकथ कथा
जो छटपटा रही कहने को,
मन के अंदर का लावा
जो फूट रहा है बहने को।

और विवशता भँवर फँसी
पकड़ उसे अब लेना है,
युद्धरत मन को अब
सुखद प्रभाती देना है।

इस हित चाहे स्वयं अकेले
अथाह यातनाएँ ढोनी हों,
और जवानी इस हित चाहे
युगों-युगों तक खोनी हों।

लक्ष्य यही है, मिटाकर अँधेरा
पग-पग आत्मदीप जलाना है,
चक्रव्यूह में घिरा अभिमन्यु-सा
तोड़ूँगा हर व्यूह, यह ठाना है।

♦♦

जीवन

जीवन!
जन्म लेने का नाम है
या जन्म लेकर
पलने का नाम है?

घुटनों के बल
चलकर, उठकर, गिरकर
माँ की उँगली थामकर,
या फिर
धरती के रज-कणों में लोटकर
यौवन की दहलीज पार कर जाना ही
क्या जीवन है?

हर पल सीखते जाना
अनुभव पाना
दुनिया को
अनुभूति में समेटकर
ढलते चले जाना
क्या जीवन है?

संघर्ष करना
हँसना-हँसाना

कभी कड़वाहट
कभी आहत,
कभी उलझन
कभी भटकन
परखना और टूट जाना।
क्या जीवन है?

प्रात: की अरुणिमा
दोपहर का प्रखर ताप,
संध्या की धड़कन
फिर अँधेरी छाया,
मिथ्या प्रलाप माया
या पकते-पकते
झर जाना
क्या जीवन है?

जन्म लेना
मर जाना
पुन: जन्म
फिर आना,
मर-मर कर
फिर-फिर आना
क्या यही है जीवन?

♦♦

जो कभी राह बनाते थे

जो कभी राह बनाते थे
उन्हें गड्ढा खोदते भी
देखा है मैंने,
जो अमृत-रस बरसाते थे
आज उन्हें ही ज़हर घोलते
देखा है मैंने।

जिन पर था विश्वास बहुत
उन्हें कपट करते पाया है,
जिसे लादा था फूलों से
काँटे भरकर वही लाया है।

यह मानव कब बदला
मुझको कुछ भी पता नहीं है,
किसे दोष दूँ,
इसको या उसको
किसी से भी मुझको खता नहीं है।

♦♦

इन्हें निकल जाने दो

मेरी पलकों को मत देखो
डबडबाते आँसुओं को भी
तुम मत छेड़ो।

मुक्त हो बह जाने दो
दिल घुट रहा जो दर्द पत्थर-सा
उसे पिघल-पिघल कर
नयनों से जल-कण बन
बह जाने दो।

मेरे प्रेम की छाया
तेरी आँखों में आए,
हम समरस बन
जग में छाएँ।

ऐसा हर दिन हो
क्षण-क्षण जीवन जी लेने दो
मेरे आँसू जग के तम को भी सोखें
तो इन्हें उन्मादी झरने-सा,
बह जाने दो।

♦♦

मेरे आँसू

मेरे आँसू
ये ही तो हैं
जो जीवन भी दे सकते हैं,
ये ही तो हैं
जो जीवन भी ले सकते हैं।

इन आँसुओं से न पूछो तो अच्छा,
ये रोके भी तो कहाँ रुकते हैं?

मेरे आँसू तो बस
अहर्निश जगते हैं,
दुनिया के लोग, मेरे मीत
मेरे आँसुओं को ठगते हैं।

♦♦

क्षणिकाएँ

1
वे ज़मीन से पत्थर
उछालते हैं
आसमान की ओर।
अपने आप भी उछलते हैं
और मचाते हैं शोर।

पर थोड़ी देर बाद लौटकर
वह पत्थर उन्हीं पर
आ गिरता है।
उछाला तो था एक ही पत्थर
पर अगणित बन गिरता है।

2
चलो आज हिमालय फिर से
व्यास, दधीचि और गांधी
जो सोये हैं चिरनिद्रा में
उन्हें जगाएँ फिर से।

3
ब्रह्मांड के सभी घटक
एक-दूसरे की ओर झुके हैं
तभी हम, तुम और वे
टिके हैं।

4
मुझे इतना प्यार न दो
कि मैं तुम्हें चाह न सकूँ।
पास तुम्हारे रहकर भी
आह तुम्हारी सह न सकूँ।

5
दुख-भरे गीत भी हमने,
हँस हँसकर ही गाए हैं,
जलने की परवाह किसे है
हम अंगारों पर भी नाचे हैं।

6
एक ही क्षण सही
पर जो मेरे पास है
मैं उसे सँजोने में जुटा हूँ
तमाम संघर्षों के बाद
पकड़ा है उसे
भले चारों ओर से लुटा हूँ।

7
यह न पूछो प्रतीक्षा,
क्या पाती क्या खोती है।
नाच नचाती ज़िंदगी
कितने ग़म ढोती है।

♦♦

क्या रोना

जब शूलों पर चलना ही है
तब काँटों को क्या रोना है,
जान सके तो जाने कोई
और अंत क्या होना है।

क्यों दुखित मान–व्यवहार से
यह तो एक सपना है,
इस प्रकृति के सामने
मानव तो एक खिलौना है।
जान सके तो जाने कोई
और अंत क्या होना है।

♦♦

अपने ही अंदर

बहुत देर तक देखा
तुझे दूर तक ढूँढ़ा,
पृथ्वी और आकाश के
असीम विस्तार में,
समुद्र के अथाह जल में
और दिशाओं के अंत में।

हे चराचर! तुम न दिखे
कंदराओं और
पर्वतों की एकांत
ऊँचाइयों में,
हे परमात्मन्!
तुम तो मिले हो
मन की अनंत गहराइयों में।

♦♦

सिर्फ़ बाज़ार

विश्व को बाज़ार जो माने धरा पर,
वे न मानव को कभी पहिचान पाए।

परिवार भी जिनके लिए दुष्कल्पना है,
मूल्य मानव का कहाँ वे जान पाए।

♦♦

मन बनाया है

अब तो मन बनाया मैंने
जो ये दुख समेकित,
तोड़ने आते हैं मुझे
मैं उन्हें ही तोड़ूँगा।
क़दम क़दम पर
अब क्षण-क्षण,
आपदाओं के तूफ़ानों को
विपरीत दिशा में मोड़ूँगा।

♦♦

रात भी दौड़ूँ

नींद नहीं आई है मुझको
नींद नहीं आई है।

रात भी दौड़ूँ मन करता है
सब-कुछ छोड़ूँ मन करता है,
कहीं चला जाऊँ अनंत में
प्रश्न हृदय से मन करता है।

जहाँ न पहुँच सका हो कोई
जहाँ रात रहती हो सोई,
वहाँ पहुँच जाऊँ बस क्षण में
या जाऊँ फिर निर्जन वन में।

♦♦

मेरा गीत

गीत के शब्द
मेरे उच्छ्वास,
गीत के स्वर
मेरे नि:श्वास,
जब कोई गीत गाएगा
दर्द ही पाएगा
स्वयं को जाना है मैंने
गीत में,
यह शब्द-रचना नहीं
मेरा चिर मीत है।
मेरा अस्तित्व है।

♦♦

नए क्षितिज

अनंत आकाश में
उड़ान भरते-भरते
वे कहाँ खो गए,
धरती और आकाश के मध्य
कहीं सो गए।

ये पंख एकाएक
उड़ते-उड़ते
कहीं रुक से गए हैं,
ऐसा लगता है
जैसे आसमान की ऊँचाइयों में
कहीं झुक से गए हैं।

यहाँ तो गगन धवल है
दृश्य अदृश्य विमल है।
जहाँ घनघोर अँधेरा
अस्तित्व मिटाने आता है।
वहीं मेरा संसार
नए क्षितिज पाता है।

अंतर्मन कहता है
हर क्षण यहाँ नया है,
यह तो अजर-अमर है
इसमें न मरने का भय है,
उदय और अस्त तो
जीवन का क्रम है।
जीना और मरना तो
महज़ एक भ्रम है।

♦♦

छिपा है कुछ

प्रतीक्षा में छिपे रहस्य को कौन जानता है?
अंतर्मन की व्यथा-कथा को कौन मानता है?

सुख-दुख सबकी प्रतीक्षाएँ होती रही जहाँ।
जीवन और मरण का भी गहरा संबंध रहा वहाँ।

ज़िंदगी हमारी दुख-दर्द को ढोती है।
हर समय, हर जगह कोई प्रतीक्षा होती है।

ज़िंदगी बहुत कुछ खोकर भी सबको कुछ देती है।
इसकी ज़मीन सरसब्ज़ नहीं उसमें भी रेती है।

यह बिना कहे अनकही कथाएँ कहती रहती है।
छोटा हो या बड़ा, संग सभी के रहती है।

बहुत मूक इसकी अभिलाषा दुख सहती रहती है।
इसके अंदर भूख प्यास, सतत बहती रहती है।

भय नहीं इसे अपने खोए जाने का।
अभ्यास इसे है सबको रुलाने और हँसाने का।

इसके रहस्य का भेद, समझ में किसके आएगा?
इसने करवट बदली तो, फिर नूतन युग आएगा।

♦♦

वह गीत

वह गीत मुझे बहुत ही भाया है,
अकेले में मैंने
जिसे गुनगुनाया है।

वह गीत केवल मेरा है,
जिसने मेरे मन को घेरा है,
सच तो यह है
कि इसका और मेरा
बस यहीं एक डेरा है।

मेरा गीत
कभी तो गुनगुनाएगा कोई,
कभी तो मेरे गीतों की,
यादों तक जाएगा कोई।

♦♦

मानव

धरती का श्रृंगार
संवेदना का आगार
सृजन का आधार
उदार, अपार।
दुर्लभ दृष्टि
प्रभु की सृष्टि,
यह मानव,
क्यों बन जाता है कभी-कभी
क्रूर-विद्रूप?
कभी दीन-हीन,
कभी विकराल।
यह
सृजन का आधार
क्यों बनना चाहता है?
धरा का भूप,
जब बाँध आँखों पर यह पट्टी
गहन होते तम के
समुद्र में डूबता है,
परपीड़न का
लेकर हथौड़ा
उन्मत्त बवंडर बन,
दुनिया में घूमता है।
कभी दिखता है

शांति का दूत,
पर होता है
अशांति का पूत।
तथागत का अनाविल-अनाघात
कर जाता सब अत्याचारों को मात।
अद्वितीय कलाकृति के
अंग-भंग कर,
तांडव प्रचंड कर
बन जाता है क्रूर,
स्वयं को बताता है शूर।

तोड़ता बुद्ध प्रतिमा
जलाता चरार-ए-शरीफ़,
नष्ट कर मंदिर
बुझाता संस्कृति के दीप।
कुचल जीवन के राग
मिटाता बंधुत्व के भाव।
सब कुछ क्षत-विक्षत कर
छोड़ता अमिट घाव ही घाव।

केवल इसलिए कि
वह जीना चाहता है
औरों को मारकर,
बढ़ना चाहता है
मानवता की हदें पार कर।

♦♦

कंधार की आँखों पर पट्टी

रोती-सिसकती
हर पल बिलखती
माँ को देखकर
जब उसे कुछ नहीं सूझता है,
तो वह
पकड़ माँ का आँचल
धीरे से पूछता है-
माँ, क्या हुआ?
बिलख-बिलख क्यों रोती हो?
कहो धैर्य क्यों खोती हो?
क्या तुम्हारा भी सुंदर-सा
कोई खिलौना टूटा है?
क्यों सोच में डूबी हो
क्या कहीं कोई साथी छूटा है?
माँ तुम तो थीं कहती
पिता शीघ्र घर आएँगे,
और पकड़कर हाथ हमारा
हमें घुमाने जाएँगे।
अब केवल इतना बतला दो
वे कब घर आएँगे?

कब हम सब मिल–जुलकर
खुशियाँ ख़ूब मनाएँगे?
पर माँ थी ख़ामोश
मुख से आवाज़ न निकली थी,
झकझोरने पर तो आँखों से
एक अश्रुधार ही फूटी थी।
दिल में बस आशंका का
ज्वार उमड़–घुमड़ता था,
और सोचकर अनहोनी
मन उदास–सा दिखता था।
उसका ही कंधार आज फिर
आँखों पर पट्टी बाँधे,
सहनशीलता की सीमा को
बड़ी क्रूरता से लाँघे।
खंडित करता बुद्ध प्रतिमा
गांधारी का देश अरे!
फैलाता आतंकवाद का
ज़हर भयंकर हरे! हरे!
विश्वविजेता बना सिकंदर
इस धरती से आया था,
सैल्यूकस ने देखो यह
यूनानी नगर बसाया था।
एक समय था वह ऐसा
जब शांत थी यह माटी,
गौतम ने उपदेश–हेतु
यह धरा ही थी छाँटी।

आतंकवाद फैला था जब
कंधार देश की घाटी में,
मानवता मिट रही थी,
बुद्धोपदेश की माटी में।
गंधर्वों के गान स्वरों में
कंपन भर आया था तब,
गूँज उठी थी विस्फोटों से
बुद्धस्थानी धरती जब।
त्रस्त हुई जनता सारी
मानवता के अपराधी से,
रुदन–भरा स्वर गूँजा था
कंधार देश की वादी से।
एक समय गांधारी ने
आँखों पर पट्टी बाँधी थी,
पतिव्रता का दे प्रमाण
सही दुःखों की आँधी थी।
जिसने पूत सपूत किए
यही पावन वह माटी थी,
गौतम ने गौरव दिलवाने
यही धरा तो छाँटी थी।

♦ ♦

क्या भूलूँ, क्या याद करूँ

संबंधों के बंधन से कैसे खुद को मैं आज़ाद करूँ।
यादें कड़वी-मीठी भी हैं, क्या भूलूँ क्या याद करूँ।

मैंने दर-दर ठोकर खाई,
जबसे था सीखा चलना,
पाए ज़ख़्म पग-पग पर मैंने,
मरहम स्वयं सीखा मलना।
अब पीड़ा के कठिन काल का, मन में क्यों अवसाद करूँ।
यादें कड़वी-मीठी भी हैं, क्या भूलूँ क्या याद करूँ?

अगणित दर्द मिले थे लेकिन
निकली नहीं कराहें थीं।
मूर्च्छित-सा तन हो जाता था
फैली रहती बाँहें थीं।
मन की मुरझाई फुलवारी, अब कैसे आबाद करूँ?
यादें कड़वी-मीठी भी हैं, क्या भूलूँ क्या याद करूँ?

कुछ क्षण आए प्रेम-प्रीति के,
यौवन का संचार हुआ,
स्वार्थलोलुपों से घिर मेरा
हृदय फिर तार-तार हुआ।
अपने और पराए में भ्रम, हा! किससे फरियाद करूँ?
यादें कड़वी-मीठी भी हैं, क्या भूलूँ क्या याद करूँ?

♦♦

तुम और मैं

तुमने जितना हो सकता है
उतना मुझे रुलाया है,
पागलों की भाँति
कभी इधर, कभी उधर
मुझे भटकाया है।
तुम्हारे लिए मैंने
स्वयं को तिल-तिल जलाया।
हर क़दम पर
बनकर रहा मैं तेरी छाया।
किंतु इसके बाद भी
कहीं दूर तक तुमको नहीं पाया,
मेरी कराहों में
अपना नहीं
तेरा दर्द रहा छाया।
अंतर्मन से की गई
मेरी तपस्या को भी
तुमने स्वार्थवश झुठलाया,

तुम मेरी जड़ें काटते रहे
खाई खोदते रहे
और मैं ख़ून-पसीना बहाकर,
नंगे पाँव चट्टानों पर,
चढ़-उतरकर, हाँफ-हाँफ कर,
खाई पाटता रहा।
तुम
सूखी डाल पर बैठकर
मुझे चिढ़ाते रहे,
छल-कपट की
झूठी क़समें खाते रहे।
लेकिन ये दिशाएँ, ये लताएँ,
और ये हिमालय की चोटियाँ
आकाश के सितारे
गवाह हैं सारे
कि तुम्हारे पास
अब केवल साँझ और रात है,
सुबह की रोशनी
और दिन तो मेरे पास है।

♦♦

लिखने को बहुत

प्रकाश भी है
आँखें भी ठीक,
फिर भी उन्हें दिखता नहीं है,
लिखने को है बहुत,
किंतु उन्हें कुछ,
सूझता नहीं है।
अच्छी तंदुरुस्ती है
दुहरा बदन है,
विकलांग भी नहीं,
पूर्णांग हैं वे,
करने को है बहुत
किंतु कुछ करने को
उन्हें सूझता ही नहीं है।
पिस रहे हैं लोग
लुट रहे हैं लोग,
अपने ही घर में
बेघर हो रहे हैं लोग।
किंतु इन महाशय को
कुछ लगता ही नहीं है।
बह रहा है ख़ून
बढ़ रहा जुनून।

क़त्ल हो रही मानवता
मिट रहा वजूद,
हिमशिखर, देवदारु, भोजपत्र,
कस्तूरी हो रहे नेस्तनाबूद,
पर वे हैं बेख़बर,
जिनके मुख से
लेखनी से, उद्‌गारों से,
जागती है प्रजा,
समय की आहट
पहचानती है प्रजा।
फिर भी वे चुप हैं,
अँधेरे में गुप्त हैं,
लिखने को तो बहुत है,
करने को भी बहुत,
किंतु वे फिर भी,
चुप हैं
एकदम चुप,
क्यों?
आख़िर क्यों?

♦♦

प्रेरणा

हिमालय के ये शैल–शिखर,
हिम–मंडित उत्तुंग शिखर,
जीवन को उच्च बनाने की,
देते हैं नित्य प्रेरणा सहज।

कल–कल निनाद करती गंगा,
जीवन–संगीत सुनाती है,
ऊँचे नभ से हरि के नख से,
शिव की अलकाओं पर आती है,
धरती के सुंदर समतल में
गति का संदेश बहाती है।

हिममंडित उच्च शैल–शिखर,
संकल्प–शक्ति का पान किए
मानो अविचल सिद्धांतों पर,
दृढ़ता का संदेश लिए,
जाने कबसे हैं खड़े हुए,
तापस–सा अद्‌भुत रूप लिए,
गौरी–गुरु के ये शैल शिखर,
हिमालय के ये शैल शिखर
हिममंडित उत्तुंग शिखर,
जीवन को उच्च बनाने की
देते हैं नित्य प्रेरणा सहज।

♦♦

विभुमय भारत

है विभु का यह निर्माण नवल,
ले समरसता का भाव सबल।
जीवन–सरिता बहती अविरल,
भारत–भू का विस्तार विमल।
निज जन्मभूमि में मन मेरा
हर्षित होकर विचरण करता,
सबके उर–मंदिर के अंदर
डाले मेरा यौवन डेरा।
यह भावबिंदु प्रेरित करता
मुझमें प्रातः सिहरन भरता,
यह विश्व–सुमन चिर सुंदरतम
सौरभ बरसाकर मन हरता।
यह प्राणतत्त्व है संप्रभु का
जिसमें पुरुषार्थ चतुष्ट्य है,
देता सबको नवजीवन यह,
जग में इसकी ही जय–जय है।
मैं स्वप्न पालता हूँ भास्वर
अखिल सृष्टि के हे गुरुवर!
आसेतु हिमालय तक फैले,
पावन वेद–ॠचा के स्वर।

♦♦

सृजन के दीप जलें

मेरे भारत को अब कोई, सपने में भी नहीं छले।
आसेतु हिमालय तक उसमें, नए सृजन के दीप जलें।

हर गाँव, शहर, खलिहानों में
बंधुत्व भाव से मिलें गले,
अब कहीं न भारत वसुधा पर
फिर आस्तीन का साँप पले।
मेरे भारत को अब कोई सपने में भी नहीं छले।
आसेतु हिमालय तक उसमें, नए सृजन के दीप जलें।

जन–जन के मन–मंदिर में अब
खिलते रहें नित नए फूल,
क्या जानें वे मैले मन
जो बोते आए हैं बबूल,
नवयुग का स्वर्णिम सूर्य उगा
स्वागत करने को चलो चलें।
मेरे भारत को अब कोई सपने में भी नहीं छले।
आसेतु हिमालय तक उसमें, नए सृजन के दीप जलें।

गहरी हो जनतंत्र की जड़
शाखाएँ इसकी खिली रहें,
भारतभूमि के आँगन में
ये गंगा-यमुना मिली रहें,
हर दिन होली हो यहाँ
नित दीवाली के दीप जलें।
मेरे भारत को अब कोई सपने में भी नहीं छले।
आसेतु हिमालय तक उसमें, नए सृजन के दीप जलें।

♦♦

हे कालिदास!

हे कालिदास!
तब तुम्हें पता नहीं था,
कि जिस टहनी पर
तुम बैठे हो।
उसी को काटकर तो
धरती पर गिराना है,
तुम्हें यह भी पता नहीं था
कि बिना बात
दूसरों के उकसाने पर
विद्योत्तमा को हराना है।
तुम तो
अपने भोलेपन में
सब-कुछ झेलते रहे,
और तुम्हारे नाम पर
कुछ तथाकथित बुद्धिजीवी
बड़ा खेल खेलते रहे।
जिन्होंने भारत की गौरव-गाथा नहीं जानी,
महान परंपरा नहीं पहचानी,

विद्योत्तमा को छलते रहे।
अकलुषित भावना को
ताक पर रख
अहं में पलते रहे।
तुम सरल थे,
तुम्हें तो सहज ही दिशा मिल गई,
तुम्हारे सीधेपन और सादगी से
अज्ञान की निशा मिट गई।
और तुम्हारे अंतर्मन में अकस्मात्
खिल गया काव्यपुष्प
हार गया तर्क शुष्क।
मिला जगत् को अनुभूति का प्रकाश।
पर आज हे कालिदास!
उन्हीं जैसे तथाकथित ज्ञानी-अभिमानी
विद्योत्तमा-सी भारत माँ को
छल रहे हैं।
अपनी कुलेखनी से,
चाटुकारिता से, अनास्था से,
संस्कृति की देवी को
कुचल रहे हैं।
उस पर अपने शुष्क तर्कों से
तुच्छ स्वार्थों की मूँग दल रहे हैं।
यह जानकर भी
कि, हरी डाल जीवन की पहचान है,
उस टहनी को छील रहे हैं,
हमारी जड़ों को

और तनों को, जिनका अंत नहीं हैं,
जो सनातन हैं,
चीर रहे हैं, काट रहे हैं,
बाँट रहे हैं।
कहें खुद को ये कालिदास
कर रहे हैं जो विनाश
कैसे हों वे कालिदास?

♦♦

राम, तुम अकेले नहीं

सब-कुछ ठीक होते हुए भी
बिना बात
हे राम!
तुमको झेलना पड़ा,
चौदह वर्षों का वनवास।
कभी-कभी
हर पल, हर जगह
खड़ा रहता है दुर्भाग्य,
कौन जाने कब?
कहाँ कोई मंथरा निकल जाएगी,
कब पुत्र-मोह में
कोई कैकेयी अड़ जाएगी?
अंत में, हे राम!
तुम्हें ही झेलना है सब-कुछ।
चाहे चौदह वर्षों का हो वनवास
या फिर प्रिय सीता को
खोने का अनुताप।
रावण विजय करने पर भी

तुम्हें सती-साध्वी, वैदेही सीता की
अग्नि-परीक्षा का संताप सहना पड़ा।
न्याय का मान रखने के लिए
गर्भवती सीता का त्याग करना पड़ा।
तुम्हें भी भोगना पड़ा कर्मवाद,
विवाद-अपवाद।
तुम अकेले नहीं हो राम
आज भी कई राम
तुम्हारी ही भाँति
यहाँ वनवास में हैं।
आस-पास हैं कई रावण
छली-कपटी
शुक्राचार्यों के परामर्श से
सत्ता के शिखर पर खड़े
और न्यायप्रिय, सत्यनिष्ठ राम,
दिख रहे हैं
शर्म से ज़मीन में गढ़ाए
अपनी आँखें।

♦♦

मैं धरती हूँ

मैं धरती हूँ सारे जग को मैं ही धारण करती हूँ।

निशि-दिन भूचालों से कंपित
बाढ़-आपदा में हो शंकित,
तुम व्यर्थ न मुझ पर वार करो
मेरे सुत, मुझसे प्यार करो।
मैं न रही तो तुम न रहोगे, यही सोचकर डरती हूँ।
मैं धरती हूँ सारे जग को मैं ही धारण करती हूँ।

सौंदर्य मेरा खो रहा है
शोर में स्वर खो रहा है,
मेरी शक्ति की सीमा है
तुम्हारा प्रयास कुछ धीमा है।
ज़हर फैलने लगा, प्रदूषण से घबराने लगती हूँ।
मैं धरती हूँ सारे जग को मैं ही धारण करती हूँ।

तुम मुझको दो स्वच्छ पवन
आभूषण मेरे वन-उपवन,
मुझको दो मृदुजल स्वच्छ गगन
मेरे शिशु मुझमें रहो मगन।
मैं विश्वंभरा माँ हूँ सबकी, मैं सबका पोषण करती हूँ।
मैं धरती हूँ सारे जग को मैं ही धारण करती हूँ।

♦♦

स्वतंत्रता के बाद

हम अभी
भूल भी न पाए थे
ख़ून-भरी नदियाँ और
उन यातनाओं को,
आज़ादी दिलाने वाले उन
वीरों के बलिदानों को,
हँसते-हँसते
चूमते फाँसी के फंदों को,
आज़ादी के बंदों को गए
अभी कुछ ही दिन बीते थे
कि फिर से
झेलना पड़ रहा है हमें,
अपनी ही ज़मीन पर
अपने ही
तानाशाह के अत्याचारों को
हैवानियों को,
दुहराते हैं जो
काले इतिहास की कहानियों को।

मेरे वतन का आदमी
लोकतंत्र के छत्र तले
पहले से कई गुना अधिक
गूँगा, बहरा, भूखा, नग्न
और लापरवाह है,
अपने दिन गिन रहा है
प्यासा और बीमार है।
आज तो हर जगह, लाठियों और गोलियों से
ज़ख़्मी पड़ा है अपना चमन,
और सत्ता के दलाल
नोचते है उसका कफ़न।
उसने तो
स्वतंत्रता देखी है
केवल पकवान खाएँ हैं,
उसने स्वयं न रोटी
सेकी है
न परतंत्रता देखी है।

♦♦

हम निकल पड़े हैं फिर से

भूख की ऐंठन
और नग्न देह के कंपन का
अहसास नहीं है तुमको,
मेरी ज़मीन की रुलाई
और हमारी त्रासदी की
चीख़ नहीं सुनाई पड़ती तुमको।
हमारे भोलेपन को तुमने
समझा हमारी दुर्बलता,
कभी भाषा, कभी मज़हब
और कभी भेद-भाव लाकर
भुलानी चाही मानवता।
तुमने अपनी सिद्ध वाणी से,
भाषणों की भूल-भुलैया में
हमें भटकाया है,
लेकिन अब हम
हो गए हैं सजग,
अपने प्राण यों ही नहीं
जाने देंगे,
रक्त यों ही भोले मानवों का

सड़क पर न बहने देंगे।
इसलिए
हम निकल पड़े हैं
सर पर कफ़न बाँधकर,
स्वाधीनता के बाद
पुनः स्वाधीनता को पाने,
बँधी हुई कलाइयाँ
पैरों की बेड़ियाँ तोड़कर
अब फिर कभी
क़ैद नहीं
की जा सकेंगी जवानियाँ,
ख़रीदी नहीं जा सकेंगी
ज़िंदगानियाँ,
लिखी नहीं जा सकेंगी
चीख़-पुकार की
कहानियाँ।
फिर से भारत की रक्षा को
हम निकल पड़े हैं....।

♦♦

राजनीति का चक्रव्यूह

कुटिल प्रहारों से घायल पीड़ाओं से भरा हुआ हूँ,
राजनीति के चक्रव्यूह में अभिमन्यु-सा घिरा हुआ हूँ।

भव्य भावना-पुंज लिए,
इस पथ पर चलने आया था,
मन की निर्मल पीड़ाओं ने
परहित को ही उकसाया था।
सरल भावना से भावित, उद्‌गारों से भरा हुआ हूँ।
राजनीति के चक्रव्यूह में, अभिमन्यु-सा घिरा हुआ हूँ।

कब सुबह हुई, कब साँझ ढली?
कब दिन गुज़रा, कुछ याद नहीं?
पर पीड़ा में ऐसा उलझा,
अपने ग़म की ही थाह नहीं।
प्रतिक्षण मैं संघर्षों की, मालाओं से पिरा हुआ हूँ।
राजनीति के चक्रव्यूह में, अभिमन्यु-सा घिरा हुआ हूँ।

पूर्वाग्रही जन तय करते हैं,
कौन ग़लत है, कौन सही?
झूठे को भी सच करने को
उलटी कुटिल बयार बही।
दुष्प्रचार की आँधी में भी, निशंक अकेला खड़ा हुआ हूँ।
राजनीति के चक्रव्यूह में, अभिमन्यु-सा घिरा हुआ हूँ।

♦♦

विरल हैं वन

बढ़ रहे हैं जन
कम हो रहे हैं वन,
बेतरतीब कटते पेड़
सिर्फ़ स्वार्थों का खेल,
हरियाली मिट रही है
जीवन का संकट यही है।
मौसम बदल गए हैं
कबके गए, अब आ रहे हैं,
लापता होते हिमखंड
तपस होती प्रचंड,
लगातार घटता ये पानी
विपदा की अकथ कहानी।
अब तो हर तरु
घुट रहे हैं मन
द्वंद्वों के संघर्ष में
जल रहे हैं तन।
विचारों की दुनिया
कहीं खो रही है,
अहं की तपन में
ईर्ष्या पनप रही है।

जल रहा आँगन
भटक रहा है मन,
सुबह का अर्थ बदल रहा है
आँखों में घिर आता सावन।
नष्ट होते पशु
नष्ट होते धान
बढ़ रही है बाढ़, बढ़ रहे ऊसर,
नष्ट हो रहा है, संजीवनी कवच
इस सतरंगी धारा का 'ओजोन परत'
आपदाओं का लगा है अंबार
काँपती पृथ्वी, मच रहा हाहाकार।
कितने संघर्षों और थपेड़ों से
बच रही पृथ्वी,
पर आज उसका
दूषित हुआ पवन
जीना हुआ दूभर
क्या करेंगे संगोष्ठियाँ,
भाषण और प्रचार!
विनाश का यह क्रम
होता नहीं है कम।
आज का अहसास
भस्मासुरी विनाश!
कैसे मिटे यह भ्रम?
कैसे ठीक होगा जीवन का क्रम?

♦♦

कहाँ है?

धरा है जो पावन
उसका कहाँ है सावन।
क्यों रूठते हैं मौसम
क्यों व्याप्त है घना तम?
कुछ तो कहो, सोचो ज़रा
क्यों हो गए ऐसे यहाँ हम?
कहाँ है यह पशुधन
कहाँ दूध-घी की नदियाँ,
कहाँ है वह भगवद्गीता
जिसे गाती रही हैं सदियाँ।
बूटी कहाँ वह संजीवन
जिसने दिया है नव जीवन,
जग को समेटा जिसने
कहाँ है वह, ममता भरा मन?

♦♦

प्रतीक्षा

तुम्हारे जाने के बाद
एक तूफ़ान उमड़ आया था
जिसमें धूल उड़ी
पत्थर हिले,
टहनियाँ झोंके खाती रहीं
और परस्पर टकराती रहीं,
पत्तियाँ तक
किलकारियाँ मारती रहीं
संवेदनशील वृक्ष
न जाने क्यों चरमराते रहे,
नरमराते रहे।
टप-टप गिरते आँसू
साथ में पत्ते भी
अजीब-सी सिहरन
अजीब-सी उदासी लिए
कुछ मूक निहारते रहे।
परिहास बन गया उपहास

ऐसा लगा
सब-कुछ उजड़ गया।
लेकिन अंतर्मन से
कोई आवाज़ देता है,
नहीं!
डरो मत, तूफ़ान गुज़रने के बाद
पुनः नया युग फिर आएगा,
इसलिए मैंने न छोड़ी आस
मैं प्रतीक्षा में रहा
तूफ़ान ख़त्म होने की,
तूफ़ान गुज़रने के बाद
जो बचा
उसकी अपनी धरती होगी
उस पर अपने हाथों से
रखी बुनियाद होगी
इतनी स्थिर और दृढ़
कि दूसरा तूफ़ान
उसे हिला न सकेगा।
मुझे प्रतीक्षा है
उस तूफ़ान की, जो
देखते ही मुझे दिलाएगा याद
मेरी मजबूत बुनियाद की।

♦♦

नींव का निर्माण

पता नहीं क्यों कहते हो
कि
थक गए हो?
क्यों भूल जाते हो
कि
किसी इमारत की
नींव रख रहे हो,
यह कुछ न कुछ
मूल्य तो चाहेगी,
तुम्हारी क़ीमत पर
यह इमारत एक स्वरूप पाएगी।
तुम्हें पता है?
इमारत की कोई मंज़िल
कितनों को आश्रय देती है,
बदले में तुमसे
पूरा जीवन लेती है।
तुम्हें तो
बस इतना ही करना है

कि इस जीवन-मंदिर की
गहरी नींव के लिए खपना है।
इसलिए मानो
पूरा जीवन खपा दो,
अपने जीवन का तिल-तिल
अँधेरा मिटाने को जला दो।
फिर कितने ही
बवंडर उठेंगे
हथोड़े चलेंगे,
भूकंप आएँगे
त्रासदी लाएँगे,
आँधी चलेगी,
जीवन छलेगी,
कोई भी बड़ा तूफ़ान आएगा
जो बहुत कुछ मिटाएगा,
पर तब भी यह इमारत
तुम्हारे इतिहास पर बनी,
तुम्हारी नींव पर टिकी
इठलाती रहेगी,
युगों-युगों तक तुम्हारे संघर्ष की
कथा कहेगी।
तुम्हारे ख़ून-पसीने की ख़ुशबू
दूर-दूर तक बहेगी,
जो किसी आँधी और
तूफ़ान में भी रहेगी।
फिर

पता नहीं तुम क्यों?
भावुक हो उठते हो,
अपने ही हाथों से
अपने आप लुटते हो।
उठो!
यह आँसू बहाने का
समय नहीं,
बहाना ही है तो
अपना ख़ून-पसीना बहाओ,
जीवन का क्षण-क्षण
और कण-कण लगाकर,
कुछ कर दिखाओ।
तुम्हारी यह संघर्ष-गाथा
व्यर्थ नहीं जाएगी
निःसंदेह वह
तुम्हारे ख़ून के प्रसून बन
अमरत्व पाएगी।

♦♦

कौन

मानव का सम्मान न कर, तू किस धरती पर रहेगा,
घाव जो बन गए हृदय में, उनको कौन भरेगा?

आवाज़ वही जो खोल सके, मन के वातायन,
गूँज वही जो हृदय पर, अंकित कर दे नारायण।

नाद वही जो दे सकता, मृदु संदेश वतन को,
मनुज वही जो अर्पित कर दे, सब-कुछ आराधन को।

जिससे अनुगूँजित हो फैले, चहुँ दिश मधुर आवाहन,
जिससे जाग उठे धरती में, सुप्त पड़ा जन-जीवन।

राग वही झंकृत कर दे, जो वीणा के स्वर को,
वह गीत सरस बन सकता है, जो गंगा-सा निर्मल हो।

जो प्यासे की प्यास बुझाए, तन को कर दे शीतल,
वही गीत जिससे आनंदित, पुलकित हो हृदय-तल।

जिसने काव्यामृत पिया, वह दुनिया में कहाँ मरेगा?
ईश्वर का भय हो दिल में, तो दानव से कौन डरेगा?

♦♦

पता नहीं क्यों

पता नहीं कुछ लिखने को, क्यों कातर मन होता है,
दिन भर जाने कितनी यादों को मेरा मन ढोता है।

याद तुम्हारे मूक कथन की
मन से क्षणिक न हटती है,
लाख मिटाना चाहा लेकिन
फिर भी तनिक न मिटती है।
मन समुद्र की गहराई में, चक्रवात-सा उठता है,
दिन-भर जाने कितनी यादों को मेरा मन ढोता है।

जीवन की इच्छाएँ अनंत
आशाओं की बड़ी लड़ी,
लक्ष्यशिखर के सम्मुख देखो
बाधाएँ हैं बहुत खड़ी।
किंतु साहसी पुरुष कहाँ, रुक साहस खोता है,
दिन-भर जाने कितनी यादों को मेरा मन ढोता है।

दुख-अभाव तो सीधी बातें
इनका कोई पार नहीं,
दृढ़ पथ पर चलने वालों पर
संशय की कोई मार नहीं।
कर्मवीर ही इस धरती पर, बीज विजय के बोता है,
दिन-भर जाने कितनी यादों को मेरा मन ढोता है।

♦♦

कुछ कह रहे हो

कंपित अधर से अनकही, बिन कहे कह रहे हो,
मेले लगे हैं हर तरफ़, यह जीवन क्यों दह रहे हो?

संघर्षों की थाह नहीं, सुख-दुख सब सह रहे हो।
पुरुषार्थ की बन नींव अपनी, ज़िंदगी क्यों ढह रहे हो?

जानता हूँ तुम बहुत, मेरे हृदय के पास हो,
अँधेरों को मिटाने का, तुम्हीं मेरा विश्वास हो।

आज हो संघर्षरत, कल के लिए क्यों बह रहे हो?
कंपित अधर से अनकही, बिन कहे तुम कह रहे हो।

दिखते कभी चाहे पराए, हर श्वास में तुम हो विचरते।
क़दम-क़दम पर साथ दे, जीवन-मरण संघर्ष करते।

'निशंक' बनना है तुम्हें, क्यों यातनाएँ सह रहे हो?
कंपित अधर से अनकही, बिन कहे तुम कह रहे हो।

♦ ♦

आशा सुबह की

आज करने को कम नहीं, बहुत कुछ पड़ा है,
सुबह होने की आशा में, जन-सामान्य खड़ा है।

अच्छे दिनों की न जाने लोग
कबसे प्रतीक्षा कर रहे थे,
जीवित रहने-भर के लिए
साँसें लंबी भर रहे थे।
क्षुद्र राजनीति के दानव ने, इनको तमाचा जड़ा है,
सुबह होने की आशा में, जन-सामान्य खड़ा है।

कुछ लोगों ने आगे आकर,
जिस आशा को सँजोया था,
अपने ख़ून-पसीने से
बीज सृजन का बोया था,
आज उस अंकुर पर, कुहासों का पहरा पड़ा है,
सुबह होने की आशा में, जन-सामान्य खड़ा है।

किसी का स्वप्न भी स्वार्थी
लोगों को रास नहीं आया,
सब मर्यादाओं का मर्दन कर,
इन्होंने उस पर लांछन लगाया।
सच होते सपनों की पौध पर, बेवक़्त कुहासा पड़ा है,
सुबह होने की आशा में, जन-सामान्य खड़ा है।

अपने स्वार्थ-हित किसको
दूसरों की चिंता पड़ी है,
अपमानित, भूखी, प्यासी जनता
सड़कों-चौराहों पर खड़ी है।
एक दिन तो फूट पड़ेगा, जो पापों का घड़ा है,
सुबह होने की आशा में, जन-सामान्य खड़ा है।

♦♦

जिधर देखो

जिधर देखो दुखी हैं सब, कहीं भी दुख कम नहीं है।
सागर उमड़ रहा है भीतर पर, आँखें बाहर नम नहीं हैं।

इन सभी को देखकर मैं
कुछ अलग जीने लगा हूँ,
जो घट रहा है हर क़दम पर
उसी को सीने लगा हूँ।
वक़्त के चोटिल यहाँ सब, इसका यहाँ मरहम नहीं है,
जिधर देखो दुखी हैं सब, कहीं भी दुख कम नहीं है।

ढूँढ़ता हूँ जिस तरफ़ भी,
कौन कहता मैं सुखी हूँ?
टूटते दिल को बचाने
मैं बना अंतर्मुखी हूँ।
स्वयं जलकर बढ़ रहा हूँ, राह में ग़म कम नहीं हैं,
जिधर देखो दुखी हैं सब, कहीं भी दुख कम नहीं है।

♦♦

मित्र ग्रंथ

हे मित्र ग्रंथ! मेरे प्रियवर!
दुनिया के अवसादों को हर।
सीने में लिपट
बाहों में सिमट
अपने में रँग कण-कण को।

रोने और हँसने के,
चीख़ने और बिलखने के,
वाक्य टपकते झरने के,
पार तुम्हें ही करने हैं,
मैं आत्मसात करूँ
किस-किस क्षण को,
हे मित्र ग्रंथ! मेरे प्रियवर!

अब कितने मैं पंथ चलूँ
इस उस किसकी गोद पलूँ,
तुम तो मेरे मीत हो
जीवन की भी प्रीत हो,
अवसाद करूँ
किस-किस क्षण को,

हे मित्र ग्रंथ! मेरे प्रियवर!

अविरल नित थक जाता हूँ
भूल नहीं कुछ पाता हूँ,
नीरवता में मधुर मिलन के
गीत सुरीले गाता हूँ,
सौग़ात कहूँ किस-किस कण को,
हे मित्र ग्रंथ! मेरे प्रियवर!

♦♦

एक दिन

जन विरल थे, तम अधिक था
घनघोर बादल गिर रहा था,
थर–थराहट हो रही थी
न तूफ़ान की गति थम रही थी।
उस अँधेरे में लताएँ
वृक्ष, पौधे, नदी, नाले
बढ़ रहे थे,
बाँझ धरती तर चुकी थी,
भर चुकी थी,
गिरिनदी वह क्षीणतोया।
किंतु मेरे उर तिमिर में
अंध घन केवल कड़कता।
लक्ष्यभेदन अति कठिन था
इधर निर्जन, उधर गिरिवन,
गर्जना भी कम नहीं थी
थरथरा उठता विकल मन।
व्यंग्य–तीर चतुर्दिक् फैले
विद्वेष–पुंज थे घोर मैले,

और मेरा अमर मानव
घोर लांछन पी रहा था।
जीवन–मरण के प्रश्न पर
होकर खड़ा भी जी रहा था।
रुक रहा था, थक रहा था
'मैं यहाँ हूँ' कह रहा था।
हर क़दम पर दंड को
निर्भीक होकर सह रहा था।
किंतु मैं ख़ुद के भरोसे
राह को अपनी बनाता,
तिमिर को भी फाड़ सकता
सूर्य बन नभ में निखरता
किरण बन मैं ही बिखरता
घुल गई सारी मलिनता,
तोड़कर सारी बलाएँ
तू बनेगा दिग्विजेता,
ले स्वयं कर में कलाएँ
चिर विजय के गीत गाएँ
कह रहा अब काल भी था।

♦♦

मैंने देखा है उसको

मैंने देखा है उसको
उसके अंदर के
ऊबड़-खाबड़ मन को,
उत्सुकता थी
उसके अंत:स्थल को छूने की।
मैंने उसके नेत्रद्वार से प्रवेश किया
उसके अनकहे गीत को भी पिया।

करता रहा प्रतीक्षा उस घड़ी की
भावनाओं के अंतस् में बसी
उस लड़ी की,
जो जोड़ती है बिखरे दिलों को
जो तोड़ती है कारा के क़िलों को।

छोर ढूँढा उस कड़ी का
जो अंतहीन जिज्ञासा बन
कई अज्ञात उड़ानें भरती है,
पहाड़, नदियाँ, झरने, सागर
सभी को लाँघकर
नील नभस्सर में डुबकी लगाती है।

मैंने देखी उसमें
वह अंतहीन पिपासा,
निराशा के मरुस्थल में
लहलहाती आशा,
मैंने देखी उसकी आँखों में
वह जिज्ञासा,
जो किसी भी यौवन का
होती है प्राण,
जिसमें होता है मान-सम्मान,
जीवन का गान।

♦♦

हे गुलाब

हे गुलाब
तू हमारे माथे पर है
तेरे खिलते ही
हमारा नीरस जीवन भी
खिल गया है
हमें अनचाहा नया संसार
मिल गया है।

हम काँटें हैं तेरी टहनियों के
जिसकी बाँहों ने हरी पत्तियों को
प्यार से समेटा है।
और शिखर पर पहुँचकर
जन्म दिया है तुम्हें
जिसे देखने, छूने और पाने के लिए
तरसते हैं लोग,
हम काँटे हैं,
हमें कब परसते हैं लोग।

हे गुलाब!
ये सच है कि तेरे बिना हम नहीं
पर यह भी सच है कि
हमारे बिना तेरा भी अस्तित्व नहीं।
जो भी हो तुम
तुमने हमें सजाया है
अपने को सजाने के लिए,
और
हमने अपने को सजाने के लिए नहीं
अपितु दूसरों को सजाने के लिए
तुझे बनाया है।
हे गुलाब!
क्या तुझे कभी यह ध्यान आया है?

♦♦

नाम नहीं रुकने का

कहाँ होती है यहाँ,
वापस लौट आने की अभिलाषा,
जब शांत वातावरण,
अपने आगोश में हो,
और हो उन्मुक्त चिंतन।
एक गहरी एकांत समाधि
न कहीं अंत हो, न हो आदि।

अपनी ही नज़र से अपने
शाश्वत स्वरूप को निखार सकें,
छूते रहें उसकी गहराइयों को
समा जाएँ उसमें बिना रुके।
फिर नहीं होगा कोई पदचाप
अंदर सिर्फ़ होगा
संगीत का आलाप।

सुन सको तो
अपने कुछ अंदर सुनो
अंतरात्मा से उठी आवाज़ को सुनो।
और चुन सकते हो तो
उसी एकांत मार्ग को चुनो।

जिसे पाने के लिए
अहं को मिटाना है।
विलंब न करो,
आज नहीं तो कल
तुम्हें यहीं आना है।
जीवन के अंतिम पड़ाव में,
सभी को यहाँ
रुकना पड़ता है,
उस अनंत-अरूप के समक्ष
झुकना पड़ता है।

♦♦

ओह! वे छलते रहे

आख्याएँ और टिप्पणियाँ चलती रहीं
उनमें आस्थाएँ और सच्चाइयाँ जलती रहीं,
इन व्यर्थ की गवेषणाओं पर
वे लोग बोलते रहे,
जो जनहित न्याय बेचकर
पवित्रता छलते रहे।

इन स्वयंभू सम्राटों को
धनलोलुपों का भी संरक्षण मिला,
तभी तो इन्होंने निरंकुश
जो चाहा वही किया,
जन-गण की सेवा का व्रत लिए
भ्रष्टाचार और आतंकवाद मिटाने का प्रण किए,
किंतु हा! स्वयं ही
स्वेच्छाचार! अनाचार!
और नरसंहार!
अत्याचारों पर अत्याचार!
और सहानुभूति का अभिनय कर,
अहिंसा और परोपकार का नाटक कर,
ओह! शुभचिंतक बन, चूसते हमारा ख़ून,
हमको कुचलने
उल्टा समझाते हैं क़ानून?

गौर से देखो
मुखौटा आदमी का लगाए
ये नरभक्षी सदृश छाए हैं।
मुँह पर इनके
ग़रीबों का ख़ून लगा है,
हाँफता, लुटा-पिटा आदमी
चौराहे पर ठगा-सा खड़ा है।
न्याय को दासी बना
ये सदैव छूटते रहे।

आज इनकी मिली भगत से
पवित्र भावनाएँ जल रही हैं,
और लाचार हैं जन,
लुट रहे हैं तन,
घुटन में है मन,
हर क़दम पर आक्रोशित लोग,
ख़ून का घूँट पी रहे हैं,
सुबह की प्रतीक्षा में
अपने ही हाथों से
अपने घावों को सी रहे हैं।
दिल पर पत्थर रख
प्राणों को हथेली पर ले
विधाता से न्याय मिलेगा
इस विश्वास में जी रहे हैं।
हतभाग्य! देवता भी छलते रहे हैं।

♦♦

लक्ष्य

जहाँ पहुँचने की
चाह है
वह राह देखी नहीं।
जो दिख रही है
वह मेरी कल्पना नहीं।

सोया भी नहीं
खोया भी नहीं,
और
कभी नहीं देखा मैंने
सोया हुआ सपना,
अथक मेहनत
ख़ून और पसीने की
बूँदों से ही
सदा संबंध रहा अपना।

मिथ्या लक्ष्य के मार्ग तो
मुझसे सदा
मुँह चुराते रहे,
पर गुप-चुप तरीक़े से
मुझे लुभाने
झूठी क़समें खाते रहे।

ये झूठी क़समें अब
नाकाम हो गई हैं
भले ही वे मेरे पथ में
काँटों को बो गई हैं।
मैंने तो काँटों को भी
जीवन माना है
अपने दृढ़ संकल्प से
इनको पुष्प बनाया है।

♦♦

अंतिम संदेश

जब तक
धरती पर स्वर्ग न होगा
मनुज में देवत्व न होगा,
एक बार नहीं सौ बार
जन्म लूँगा मैं तब तक।

संवेदना बची रहे
प्रयत्न करना पड़ेगा,
चेतना जागी रहे
प्रभाती तो गानी पड़ेगी।

पथरीली राहों का लंबा सफ़र है,
दु:खते क़दमों से ही चलना पड़ेगा।
स्वार्थ के महाभारत में
अकेले नहीं हम,
कई अर्जुन, कई अभिमन्यु
साथ हैं,
नव प्रभात उगाना है तो
लड़ना पड़ेगा।

♦♦

प्रेम की शक्ति

शक्ति है प्रेम में
उसके संबंधों में,
जिसके रहते अनिच्छा में भी
इच्छा होती है,
असुविधा होते हुए भी
दिशाएँ पथ देती हैं।

पहले विरोध फिर शांति
दूर हो जाती है भ्रांति,
अकलुषित अभीष्ट पाने पर
हो जाता है तृप्त मन,
क्लिष्ट वृत्तियाँ अपना
जाल समेट लेती हैं।
आक्रोश हो जाता है मधुमय,
दोनों के क़दम,
करते हैं नवयुग का सूत्रपात।
साहस, विश्वास, आस्था
और श्रद्धा के चढ़कर सोपान,
मानव समरसता व सद्भाव
के पढ़ता है आख्यान।
प्रेम

साधना की परिणति है
सब कुछ उढ़ेलने पर आ जाती है
पावन योग्यता,
'स्व' को नकारकर
या सँवारकर
कर देता है विश्वभर।
यही है धरा का अमृत
हो जाता है जीवन जगमग,
अनुरक्ति से भक्ति
यही है प्रेम की शक्ति।

♦♦

चरैवेति चरैवेति

यहाँ तो बाहर
बहुत भीड़ है,
दूर-दूर तक फैली
बाँहें पसारे पीर है।
समस्याओं का
लगा हुआ अंबार है,
लगता है जैसे
यही तो संसार है।

पानी, बिजली, सड़क,
अध्यापक, स्कूल नहीं है,
बीमारियाँ भी बहुत
न दिखता अस्पताल कहीं है।
दिखते हैं तो
कहीं समारोह, कहीं फ़साद
कहीं भोग, कहीं कोप
कहीं चाहें, फैली आहें,
यहाँ तो आज
सब-कुछ सिमट गया है,
मान-मर्यादाएँ, भाव-भावनाएँ
यहाँ सब कुछ ही नया है।

दुनिया सिमटकर
एक तालाब हो गई है,
जिसमें वेदना-संवदेना
गहरे गर्त में खो गई हैं।
फैले तो हैं अनेक प्रश्न
भूख के, बेरोज़गारी के,
जिनमें सिमटा सारा जहान।

ऐसा नहीं कि मुझे
इसकी अनुभूति नहीं होती,
इस सबको देखकर
मेरी आँखें नहीं रोतीं।
मैं लिखना चाहता हूँ,
लिख नहीं पाता,
व्याकुल भाव सह नहीं पाता।
समय की दौड़, रोकूँ तो कैसे?
आँधियों को पहाड़ रोके जैसे?
रुकूँ तो कहाँ, किधर?
रुकूँ तो, गिराने को
लोग खड़े हैं,
इन्होंने ही मेरी राहों में
काँटे गढ़े हैं,
मरुस्थल में मेरे पैर पड़े हैं।
अपंग भी तो पहाड़ चढ़े हैं,
पर मैं नहीं गिरूँगा

सामने हिमालय ललकार रहा है
आसेतु भारत पुकार रहा है
मेरी माँ राह निहारेगी
भावी पीढ़ी मुझे पुकारेगी
दौड़ूँगा मैं फिर से
न घिरेंगी हिमालय की बाँहें,
बुझेगी शत्रु की नृशंस निगाहें।
कानों में समय कह रहा है
विश्व में आतंक पक रहा है,
मैं सहूँगा और मैं चाहूँगा
मैं बढ़ूँगा और मैं जीतूँगा
मेरा निशंक मन कह रहा है
चरैवेति! चरैवेति!

♦♦

मैं हारा नहीं हूँ

मैं
संघर्ष करता रहा,
प्रत्येक कार्य में
अपना मन खपाता रहा।
मैंने निष्ठा और परिश्रम का
व्रत लिया,
मानव की संवेदना
बचाने के लिए
स्वयं को अर्पित किया।
विजय या पराजय
कपट या धोखा
जीवन के दो रूप
मैंने दोनों को स्वीकार किया।

संघर्षों ने थकाया
विजय फिर भी मेरी है
रुका नहीं चलता रहा हूँ
मैं परिस्थितियों से लड़ता रहा हूँ

सैनिक-सा युद्धरत
बढ़ता रहा हूँ,
परिणाम अनपेक्षित रहने पर
मेरा हृदय कायर न हुआ
कभी दुखी नहीं हुआ,
क्योंकि मैंने यथाशक्ति
विजय-हेतु यत्न किया
इसीलिए
मैं हारते हुए भी जीता हूँ
और, जीतता रहूँगा।

♦♦

संघर्ष जारी है

दृढ़ संकल्प के आगे तो
दुनिया भी हारी है,
निज लक्ष्य पाने हेतु
मेरा संघर्ष जारी है।

जहाँ भी देखो
वहीं आपाधापी है
स्वार्थ और अन्याय में
पनप रहे पापी हैं,
आज इन्हें मिटाने हेतु
मेरा संघर्ष जारी है।

यही मेरा संगी-साथी
यही रहा मान-सम्मान,
इसी से नैया पार उतारी है,
निज लक्ष्य पाने के लिए
मेरा संघर्ष जारी है।

रत इसी में रहा हर दम
पग न इसने डिगने दिए,
जीवन की राह सँवारी है
निज लक्ष्य पाने हेतु
मेरा संघर्ष जारी है।

बाधाएँ कम कभी रही नहीं
अभावों का फैल रहा जाल
पर हिम्मत कभी न हारी है,
निज लक्ष्य पाने हेतु
मेरा संघर्ष जारी है।

♦ ♦

मौक़ा है

तुमने बहते हुए पानी को
रोका है
फिर उस ठहराव में
चट्टान को झोंका है।
तुम्हें आदत रही हमेशा
तमाशा देखने की
तुमने तो दरियादिली पर
नुकीली कीलों को ठोका है।
सँभल जाओ अभी भी
जीवन के अब
कितने दिन शेष रहे
देखो अभी भी
सँभलने का मौक़ा है।

♦♦

हम ही जले

घर से निकलकर राह में
जबसे चले हैं
हर राह व चौराहे पर
हम ही जले हैं।

रौंदकर शालीनता
बोलते हैं हम सहज हैं।
प्रकृति का सौंदर्य न देखा
सोचते हैं हम मनुज हैं।

प्रश्नों के चक्रव्यूह में
हम ही छले हैं।
घर से निकलकर राह में
जबसे चले हैं।
जीवन की हर राह में
हम ही जले हैं।

♦♦

यात्रा

घोर अँधेरी रात
हाथ को हाथ नहीं सूझता है
पुनरपि मुझे
अनवरत बहना है,
केवल अपनी कल-कल निनाद,
और कुछ भी तो नहीं कहना है।
थकना और रुकना
दोनों मुझे नहीं अपनाना,
क्योंकि मुझे तो
महासागर में है समाना।
जो है अनंत
उसे पाने के लिए
मुझे अहर्निश है उसमें समाना
अनंत होने के लिए।

♦♦

भावों की देवी

शब्द की देवी
अर्थ की प्रतिमूर्ति,
श्वेत छटा से युक्त तुम
किन भावनाओं को लाई हो?

मुग्धा-से कंपित स्वर
उर्वशी-से हैं अरुण अधर,
सरिता-सी तुम चंचल देवी
दीपशिखा-सी छाई हो,
तुमसे ही हममें है ऊर्जा
शक्ति का तुम रूप, अरे?
समरसता की करके वर्षा
सबके तुमने कष्ट हरे।

♦♦

सुंदर

जो सुंदर है
वह सुंदर ही रहेगा,
हर कोई उसे
कहीं और कभी तो
सुंदर ही कहेगा।

यह अलग बात है
कि तुम
विष बो-बोकर
उसकी विमलता नहीं रहने दोगे,
तुममें इतनी उदारता कहाँ?
कि तुम सह सकोगे
लोगों को उसे सुंदर कहने दोगे।

तुम्हारी कुटिल चाल
तुम्हारे यह जी का जंजाल,
उसे घेरने पर तुली है
तुम्हारे लिए रात
केवल निंदा के लिए खुली है।

♦♦

तुम न जाने क्यों?

तुम न जाने क्यों?
चिंता करती हो,
हर श्वास में क्यों
मूक वेदना भरती हो?

कौन समय है पास नहीं तुम
हर पल, हर क्षण मिलती हो,
घोर निराशा की आँधी में
इंद्रधनुष-सी खिलती हो।

अंत:स्थल में हलचल करती
समा गई हो तन-मन में,
अंतहीन जीवन के पथ में
नभ-गंगा-सी मिलती हो।

सिहरन पैदा होती तन में
तुम मेरे मन को हरती हो,
छंद निखर जाते हैं जब तुम
मेरे संग-संग चलती हो।

♦♦

ठेके

'स्वयमेव मृगेंद्रता' ही ध्येय रहा है जहाँ,
अब हर वस्तु के ठेके होने लगे वहाँ।

जीवन के, मरण के,
लोगों के अपहरण के,
ज़िंदगी चल रही हैं ठेकों पर
शासन-प्रशासन ही क्या,
इस प्रगति को पहुँचाने की,
साज़िश है घर-घर।
कुछ स्वयंभू बने लोकतंत्र के पहरेदार
भीतर से हैवानियत,
पर बाहर से दिखाते प्यार।

समय का चक्र कैसे घूमा,
प्रगतिवाद ने क्या शिखर है चूमा?
हमको देखो, बढ़े हैं कितने
तुच्छ स्वार्थ पर लगे हैं मिटने,
आज लोग हैं कैसे-कैसे
गिरगिट रंग बदलते जैसे,
दुर्जन तो देते थे ठेके,
उनके संग अपने भी बैठे।

निर्माण-कार्य के सुने थे ठेके,
भवन-सड़क बनते थे देखे,
किंतु अब ठेके भी उसके,
छल-प्रपंच संग-संग हैं जिसके।

घोर तम की इस बेला में,
कहीं दीप भी जलते हैं।
सीने में दर्द छिपाए,
हँसते-हँसते वे चलते हैं।
मन में विचार,
आँखों में
अभी भी दृष्टि है उनकी
बेघर करने की कोशिश है उनको,
अपनी ही ज़मीन है जिनकी।
फूटी आँख नहीं सुहाता,
जो कुछ अच्छा करना चाहें,
स्वाभिमान का एक श्वास,
जो अपने में भरना चाहें।

उसके लिए एक नहीं,
अनेक षड्यंत्र रचे जाते हैं,
इसके लिए ज़मीन और
आसमान मिलाए जाते हैं।
कुछ लोग षड्यंत्र करते हैं,
दूसरों को दुख देने
दिन-रात वे मरते हैं,

आज भी अभिमन्यु को मिटाने,
चक्रव्यूह वे रचते हैं,
कुछ उसका वध करने
कुछ दर्शक बनके रहते हैं?

अभिमन्यु को मारना
कोई आसान नहीं है,
गर्भ में पाई शिक्षा भी
कहीं-न-कहीं है
अत: रचे जाते हैं षड्यंत्र,
प्रयोग किए जाते हैं सारे तंत्र,
अभिमन्यु को हर हाल में,
चक्रव्यूह में फँसाने के,
दिए जाते हैं पुरस्कार,
ऐसे गहरे षड्यंत्र रचाने के।

और अबोध वीर बालक,
वीरता दिखाते-दिखाते
अलग-थलग पड़ जाता है,
भीड़ बहुत स्वार्थों में डूबी
किसे तरस यहाँ आता है?
कौरवों के बीच,
दूर-दूर तक भी उसे
कोई पथ नहीं दिखता है।
साथ नहीं देते हैं,
पत्रकार और साहित्यकार

किंकर्त्तव्यविमूढ़-से हैं,
लोकतंत्र के पहरेदार।
लोकतंत्र की सदाशयता का
दुरुपयोग होता है,
क्रूरता ठहाके मारती है,
जनतंत्र सिर छिपा रोता है।

दिन-दहाड़े होते हैं अत्याचार,
बढ़ जाते हैं अनाचार,
एक क्षण क्यों न सही,
सहम जाते हैं सत्यान्वेषी
छल-कपट की दुनिया में,
अपनों को दोषी पाते हैं।
और स्वत: खिंच जाती हैं,
उनके माथे पर चिंता की लकीरें।
भगवान जाने किस क्षण
और कब होगी हुंकार
कब सुनाई देगी
शेषनाग की वह फुंकार?
उसके करवट बदलने की प्रतीक्षा में हूँ,
मैं और मेरा अपना रचना-संसार।

♦♦

व्यापार

'स्वयमेव मृगेंद्रता' ही
ध्येय रहा है जहाँ,
अब हर वस्तु का
व्यापार होने लगा वहाँ।
जीवन का, मरण का
लोगों के अपहरण का,
जीवन का व्यापार होने लगा है।

शासन का यह व्यापार
घर-घर पहुँच गया है।
लोकतंत्र का पुरोधा
धन-तंत्र में
आकंठ धँस गया है,
सपनों का व्यापार होने लगा है।

निर्माण ही विकास का नारा है
चोर-चोर में भी भाई-चारा है,
पुल बनते ही ढह रहे हैं
धोखे की कथा कह रहे हैं,
विकास का व्यापार होने लगा है।

अँधेरा बहुत
पर देर नहीं हुई है
चेतना जन की
सोई हुई नहीं है,
अभिमन्यु, मत कह मैं अकेला हूँ
मैं भी तो तेरे साथ
सहर्ष खड़ा हूँ,
स्वाभिमान का कभी
व्यापार नहीं हुआ है।

♦♦